समयसार, गाथा ४९। गाथा तो चल गयी है।

टीका - जो यह जीव है, ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, यह है वह **निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है..** यह पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से, भगवान आत्मा..

श्रोता : निश्चय से अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय से अर्थात् यथार्थ। निमित्तरूप से सम्बन्ध है, व्यवहाररूप से सम्बन्ध है; परमार्थ से वह है नहीं - ऐसा कहना है। सर्व सम्बन्ध निषिद्ध, २०० कलश

में है। ऐसा तो आ गया न कल, व्यवहार से जीव को (और) शरीर को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, कर्म को और जीव को भी निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह व्यवहार है, वह जानना / ज्ञान करनेयोग्य है, परन्तु वह आदरणीय नहीं है; आहाहा! आदरणीय तो यह भगवान आत्मा.. आहाहा! जीव है। पहले तो अस्ति सिद्ध की है।

भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप.. यह तो जब इन्द्रों ने भगवान की स्तुति की है, तब तो एक हजार आठ नाम से उन्हें पुकारा है। एक हजार आठ! यह कहकर भी ऐसा कहा कि यह तो सामान्य बात है, वरना आप तो अनन्त गुणों से (शोभायमान हो)। आहाहा! यह तो ऐसा जीव है। एक हजार आठ नाम के लक्षण दिये हैं, आदिपुराण में (दिये हैं)। आदिपुराण निकाला था, दूसरे में है परन्तु तीनों ही अलग हैं। एक हजार आठ नाम जिनसेनाचार्य के हैं, एक हजार आठ नाम आशाधर के हैं, एक हजार आठ नाम हेमचन्द्राचार्य के हैं, बहुत करके तीन हैं या पाँच हैं। दूसरे एक दो हों तो पता नहीं। बनारसीदास के थोड़े नाम हैं इसमें, नाम ऐसे हैं एक पुस्तक अलग है परन्तु वह तो भाई ने—हिम्मतभाई ने कहा था परन्तु हाथ आया नहीं। आहाहा!

प्रभु! आपके एक हजार आठ नाम, आत्मा ज्ञान सम्पन्न है, दर्शन सम्पन्न है, आनन्द सम्पन्न है, जीवत्वशक्ति सम्पन्न है, चिति-दृशि, ज्ञान, सैंतालीस शक्ति आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. ऐसे गुणों से सम्पन्न है, उसमें एक-एक गुण से कहे तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. (गुण) होते हैं। आहाहा! ऐसा यह जीव है, ऐसा अभी पहले सिद्ध करते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त जीवत्वशक्ति सम्पन्न, अनन्त-अनन्त चितिशक्ति सम्पन्न, अनन्त-अनन्त दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति, प्रभुशक्ति, विभुत्वशक्ति, सर्वदर्शि, सर्वज्ञ इत्यादि अनन्त-अनन्त जिनकी सामर्थ्य है—ऐसे अनन्त शक्ति सम्पन्न प्रभु वह जीव है। अभी इतनी बात की है। आहाहा! समझ में आया?

जीव है अर्थात् जीव कहो या आत्मा कहो। आहाहा! दूसरों में ऐसा है कि आत्मा तो निर्लेप है परन्तु जीव को अन्तरकर्म सहित दोष है, ऐसे दो भिन्न करते हैं - ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो पहली अपनी जीवत्वशक्ति निकाली है न भाई! पहले जीवत्वशक्ति

निकाली है न पहली ! क्योंकि '**जीवो चरित्रदर्शनज्ञानठिदो**' वहाँ से उठाया है। दूसरी गाथा में कहा है। आहाहा ! क्या शैली प्रभु की ! यह तेरी शैली क्या ? '**जीवो**'—दूसरी गाथा '**चरित्रदर्शनणाणठिद्दो**' उसमें से पहली जीवत्वशक्ति निकाली है ! भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, और अनन्त सत्ता से जिसका-प्रभु का जीवन है.. आहाहा ! ऐसी जीवत्वशक्ति, ऐसी चितिशक्ति... देखो ! इन सबमें ज्ञान तो सबमें आयेगा। जीवत्व में भी ज्ञान आया - दर्शन आनन्द, चिति में भी ज्ञान और दर्शन दोनों आये। प्रभु ! तू तो चितिशक्ति सम्पन्न है न प्रभु ! जीव है वह चिति, दर्शन, ज्ञान का पिण्ड प्रभु वह चितिशक्ति है, आहाहा ! फिर उसके भेद किये। दर्शनशक्ति, फिर ज्ञानशक्ति। देखो ! फिर आया जीवत्व में दर्शनज्ञान आया था, चिति में दर्शनज्ञान आया था, फिर दर्शन और ज्ञान भिन्न किये। आहाहा !

पश्चात् वीर्यशक्ति, प्रभुत्वशक्ति, परन्तु यह प्रभुत्वशक्ति भी जीव है, ऐसे जो अनन्त गुण हैं, उनमें एक-एक (प्रत्येक) शक्ति का रूप है, ऐसा जीव है। आहाहा ! यह पहली जीव है, उसकी व्याख्या चलती है। फिर तो नहीं उसमें अर्थात् 'नास्ति' ऐसा कहते हैं। आहाहा ! भगवान आत्मा अनन्त.. अनन्त ज्ञान, दर्शनसहित चिति, दर्शि, ज्ञानसहित, प्रभुत्व-विभुत्व सहित और यह प्रभुत्वशक्ति भी अनन्त शक्ति में इसका रूप है और प्रत्येक शक्ति प्रभुत्वशक्तिस्वरूप है। आहाहा ! ऐसी विभुत्वशक्ति, सर्वदर्शीशक्ति, उसमें फिर दर्शन आया। सर्वज्ञशक्ति में ज्ञान आया, स्वच्छत्वशक्ति में ज्ञान आया, प्रकाशशक्ति में वापस स्वसंवेदनज्ञान.. आहाहा ! ऐसे अनन्त-अनन्त गुण असंकुचित, अकार्यकारणशक्ति अनन्त, परिणम्य-परिणाम्यशक्ति अनन्त, त्याग-उपादानशून्यत्वशक्ति अनन्त, अगुरुलघुगुणशक्ति अनन्त, उत्पादव्ययध्रुवशक्ति अनन्त—प्रत्येक शक्ति में अनन्त का रूप, इसलिए अनन्त—ऐसा कहा। आहाहा !

ऐसे अगुरुलघुशक्ति अनन्त, आहाहा ! उत्पादव्ययशक्ति अनन्त, अस्तित्वपरिणाम की शक्ति अनन्त, इसमें एक-एक में अनन्त का रूप, ओहो ! ऐसा जीव है, यहाँ तो कहते हैं। अमूर्तशक्ति अनन्त, अकर्तृत्वशक्ति अनन्त, अभोक्तृत्वशक्ति अनन्त। एक-एक शक्ति में वापस प्रत्येक में अकर्तृत्वपना-अभोक्तृत्वपना प्रत्येक गुण के रूप में है। आहाहा !

भगवान तो अनन्त गुण का सागर, अनन्त-अनन्त गुण परन्तु वे अनन्त-अनन्त जिसका अन्त नहीं इतने गुण, परन्तु उन अनन्त गुण का एक-एक गुण में उनका रूप सब। आहाहा! अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुण हैं। इतने अनन्तानन्त, जिनका वापस अन्त नहीं, इसके इतने गुणों का एक-एक गुण में उनका रूप। ओहोहो! एक गुण उसमें नहीं—एक गुण में दूसरा गुण नहीं—परन्तु गुण का स्वरूप अन्दर है। जैसे कि कर्तृत्वगुण है परन्तु अन्दर कर्तृत्वगुण नहीं परन्तु कर्तृत्व नाम का उसमें रूप है! आहाहा! एक-एक ज्ञान, एक-एक दर्शन, एक-एक आनन्द, ऐसे अनन्त गुण में एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त का रूप। आहाहा! ऐसा जीव है।

श्रोता : ऐसा तो छहों में है द्रव्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है! इसलिए ऐसा कहते हैं ऐसा है। अब पर से नहीं, वह स्व से है, ऐसे गुणों से। आहाहा! अरे! यहाँ तो दृष्टि का विषय जो जीव है, उसे पहले वर्णन किया है। आहाहा! जीव है, उसमें बड़ी व्याख्या बहुत है। यह थोड़ी-थोड़ी ली है, आहाहा! बाकी तो जीव है। आहाहा!

श्रोता : 'जीव' दो अक्षर में अनन्त भरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त। 'जगत' तीन अक्षर में तीनों एकाकार हैं। 'ज..' 'ग..' 'त..' जगत में कितना भरा है! अनन्त निगोद, अनन्त सिद्ध, आहाहा! अनन्त द्रव्य, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय, जगत... 'ज' 'ग' ज के बाद झ। क ख ग 'ग' तीसरा आता है यह उसमें—पाँच बोल में पहला 'ज', क ख ग घ फिर ज आता है न, पहले ज और फिर तीसरा ग के बाद वे त थ द ध न में पहला त, पाँच-पाँच बोल हैं न! आहाहा! 'जगत' तीन अक्षर में तो चौदह ब्रह्माण्ड / लोकालोक जगत शब्द में आ जाता है। आहाहा! ऐसे जीव है उसमें। भाई! हमारे चन्दुभाई कहते हैं, दो अक्षर है। 'जीव' दो अक्षर हैं। 'है' यह उसका विशेषण हुआ। आहाहा!

'जीव' भगवान परमानन्द का नाथ, अनन्त-अनन्त गुणों में एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त गुणों का रूप। विशेष वर्णन किया है उसमें, 'अध्यात्म पंच संग्रह' है न! उसमें पीछे बहुत वर्णन किया है भाई ने, अपने को तो बहुत पकड़ में नहीं आये इतना वर्णन

किया है। आहाहा! भाई ने-दीपचन्दजी ने। गुण और उसका रूप और उसमें तत्त्व और विशेष उसके प्रकार पाड़-पाड़कर उसके एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त शक्ति का वर्णन किया है। एक-एक गुण में, हों! यहाँ पुस्तक नहीं? अध्यात्म पंच संग्रह है। दीपचन्दजी कृत। परन्तु उन्होंने तो गजब काम किया है। शक्ति के वर्णन का विस्तार उन्होंने जैसा किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। इतनी-इतनी शक्ति का वर्णन उन्होंने पंच संग्रह में किया है। आहाहा! यहाँ तो वर्णन करना है जीव-जीव-जीव है। आहाहा! वह अनन्त अनन्त गुणों का स्वरूप प्रभु ऐसा जीव है, प्रभु! आहाहा! वह, है वह! आहाहा! भगवान यह तेरे घर की बात है। आहाहा! वास्तव में निमित्त से सम्बन्ध हो तो वह कहीं वास्तविक वस्तु नहीं है। वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अर्थात् जड़ द्रव्य से रजकण हैं, पुद्गल द्रव्य से अर्थात् जड़ द्रव्य से जो पुद्गल के अनन्त रजकण हैं उनसे वह अन्य होने से- द्रव्य से अन्य होने से-पहला शब्द यह है। फिर दूसरा आयेगा गुण से अन्य होने से। आहाहा!

जो जीवद्रव्य है वह **पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिए उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है..** क्योंकि पुद्गल का, पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिए इसके - आत्मा में रसगुण नहीं है। वर्ण, गंध, स्पर्श न लेकर पहले यह (रस) क्यों लिया? आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का रस प्रभु है। आहाहा! भाई! यह जयसेनाचार्य की टीका है न...

निज निर्विकल्प समाधि संजात उत्पन्न स्वानुभूति—ऐसी जो स्वानुभूति गिरिगुफा, उस स्वानुभूतिरूप गिरिगुफा में प्रवेश करके... यह गिरिगुफा में वह बाहर की बात है। आहाहा! समझ में आया? है यहाँ, पुस्तक नहीं? समयसार नहीं, देखो! ४९ गाथा देखो! यहाँ तो बहुत बार बात आ गयी है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ उपादेयरूप से दृष्टि में लेकर, आहाहा! '**मत्वा**' ऐसा जानकर, निर्विकल्प / विकल्परहित प्रभु, निर्मोह / मोहरहित प्रभु, निरंजन - जिसका कोई अंजन नहीं, मेल-आवरण नहीं, निज शुद्धात्म, निज शुद्धात्मा अपना जो शुद्ध आत्मा त्रिकाली, उसकी समाधि संजात-उसके आश्रय से समाधि अर्थात् आनन्द की उत्पत्ति हुई। 'समाधि' लोगस्स में आता है न 'समाधिवर मुत्तमंदन्तु' लोगस्स में आता है परन्तु इसके अर्थ का कहाँ पता है? गाड़ी हाँक रखते हैं (पाठ रटा करते हैं)। यहाँ तो निर्विकल्प समाधि शान्ति जो आनन्द-अतीन्द्रिय समाधि

आनन्द, उससे संजात सुखामृत से उत्पन्न हुआ सुखरूपी अमृत-उसकी जो रसानुभूति-अनुभूति का रस का अनुभव '**ऐवे लक्षणे गिरिगृहा गुहरे**'—ऐसे लक्षणवाली गिरिगुफा में प्रवेश करके... पत्थर की गिरिगुफा में नहीं। आहाहा!

ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, बापू! आहाहा! स्वानुभूति, सुखामृत रसानुभूति लक्षण आनन्द का नाथ, उसकी अनुभूतिरूपी रसायन, अरस-उसमें प्रवेश करके-गिरिगुफा में प्रवेश किया। आहाहा! '**सर्वतात्पर्यम धातुयं**' सर्वतात्पर्य का तात्पर्य उसे ध्यान करना, उसे ध्याना। गिरिगुफा आता है। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा जो जीव भगवान है, वह **पुद्गलद्रव्य से भिन्न है; इसलिए उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है, अतः** प्रभु **अरस है।** अनुभूति के रस की अपेक्षा से इस रसरहित है ऐसा कहा, उसमें आया न अनुभूति।

श्रोता : छह द्रव्यों में से अकेले पुद्गलद्रव्य के साथ ही क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर दूसरा डाल देंगे। यह मूल तो उसके साथ दिक्कत है न? दिखता है और उसके साथ पूरा सम्बन्ध है। अन्य दिखते नहीं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल। आहाहा! देखो न! बेचारे खीमचन्दभाई असाध्य में पड़े हैं। बाह्य असाध्य, हों! वह असाध्य, वह तो फिर अलग चीज। ऐसा का ऐसा पड़ा है। भगवान! पुद्गलद्रव्य के इससे अधिक सम्बन्ध तो वह है न? यह शरीर मैं हूँ, वाणी मैं हूँ और मन मैं हूँ, मन-वचन-काया, कृत-कारित-अनुमोदना से भगवान तो रहित है। भावना में आता है, अन्त में बन्ध अधिकार और सर्वविशुद्ध में। तात्पर्य आता है, पूरा बड़ा अधिकार है। बहुत बार कहा गया है।

मैं तो पुद्गलद्रव्य से अन्यद्रव्य होने से उसका रसगुण मुझमें नहीं। मेरा आत्मा तो आनन्दरस है-ऐसा कहते हैं। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्दरसमय जीव हूँ। आहाहा! यह जो पुद्गल का रसगुण है, वह मुझमें नहीं है-एक बात। यह रस पहले क्यों लिया, यह आया। अनुभूति के आनन्द के रस से यह रस नहीं इसमें, ऐसा है। आहाहा!

अरेरे! देह छूटने के काल में इसने देह और अपना एकत्व माना होगा.. आहाहा! वे लड़के नीम की डालियों में खेलते हैं, वहाँ नीम को छूकर (खेलते हैं)। वह वनस्पति

है, उसे दु:ख होता है, हाथ लगे तो असंख्य जीव मर जाते हैं। यदि नीम की डालियों को छूकर घूमते हैं, चक्कर मारते हैं। उन्हें पता नहीं, यहाँ सुनने आये और वनस्पति को.. खेलते हैं चारों ओर। बड़ी डालियाँ.. देखो, चक्कर मारते हैं। पागलपन है कुछ.. अब आये हैं सोनगढ़! नीम को एक हाथ लगाने पर असंख्य जीव मर जाते हैं। तुरन्त ही पत्तों को छूने से असंख्य जीव मर जाते हैं। आहाहा! वास्तव में वे छूते नहीं, परन्तु उस समय उन्हें जीव को छूटने का प्रसंग हो, तब वह निमित्त ऐसा होता है। आहाहा!

दूसरा बोल—यह रस क्यों लिया? - इसका अर्थ किया। भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभूति रस है, उसे जीव कहते हैं। ऐसे इस पुद्गल का पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से, पुद्गलद्रव्य का रसगुण इसमें नहीं है। आत्मा के आनन्द का रस इसमें है। आहाहा! कठिन बातें भाई! आहाहा!

दूसरा—**पुद्गलद्रव्य के गुणों से..** लिया। पहला द्रव्य से लिया था। **पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न..** भी है न वापस भी - पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से रसगुण नहीं है और **पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी..** एक-एक अक्षर.. वह **भिन्न होने से स्वयं भी..** स्वयं भी ऐसा। आहाहा! है न? **रसगुण नहीं है..** पुद्गलद्रव्य के गुणों से भगवान आत्मा भिन्न होने से। भगवान स्वयं भी रसगुण नहीं है इसमें। आहाहा! है? स्वयं भी रसगुण नहीं है। **इसलिए अरस है।** आहाहा!

(तीसरा बोल—) **परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है,** आहाहा! **इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय..** यह द्रव्य इन्द्रियाँ हैं न! यह जड़ शरीर परिणाम को प्राप्त, शरीर परिणाम को प्राप्त, चक्षु, नाक-गंध, रस, स्पर्श, इस **पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है..** इन जड़ इन्द्रियों का मालिक आत्मा नहीं है। आहाहा! **इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता..** वह जड़-मिट्टी है, यह जीभ द्रव्येन्द्रिय। इसका-जीभेन्द्रिय का स्वामी कहीं जीव नहीं है कि जीभ को हिलावे और रस को चखे। आहाहा! गाथा बहुत अच्छी आ गयी है। आहाहा!

वास्तव में, पहले तो इसमें वास्तव में कहा था। इसमें परमार्थ से कहा। पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी, ऐसा। इन जड़ इन्द्रियों का वह स्वामी नहीं। इस जीभेन्द्रिय का वह आत्मा मालिक नहीं। इसका यह स्वामी नहीं।

श्रोता : पैसे का स्वामी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे का स्वामी यह कब (था)। मूर्ख हो, वह मानता है कि पैसे मेरे, यह मूर्ख हो वह मानता है। यह निर्जरा अधिकार में आया है न, भाई! जो यह है, उसे मेरा मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ। निर्जरा अधिकार है न! आहाहा! यदि मैं यह शरीर, वाणी, मन, पैसा, स्त्री का शरीर इत्यादि मेरा मानूँ, तब तो मैं जड़ हो जाऊँ। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। यहाँ तो जहाँ हो वहाँ मैंने किया.. मैंने किया.. मैंने किया.. और मैं करता हूँ। यह स्वामी होकर मिथ्यात्व का अभिमान सेवन करता है। आहाहा!

वास्तव में यह द्रव्येन्द्रियाँ जो यह जीभ, उसके अवलम्बन द्वारा, उसके अवलम्बन के आश्रय से ही चख नहीं चखता। भगवान इस जीभेन्द्रिय के आलम्बन से रस को नहीं चखता, क्योंकि जीभेन्द्रिय-इस जड़ का वह कहीं स्वामी नहीं है, वह कहीं मालिक नहीं है। आहाहा! एक व्यक्ति कहता है कि यह समयसार मैं पन्द्रह दिन में पढ़ गया.. बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, अच्छी बात है, बापू! अरे बापू, भाई! यह बातें कोई दूसरी हैं। आहाहा! जीभ का स्वामी जीव नहीं। वह जड़ है; इसलिए उसके द्वारा इस रस को आत्मा नहीं चखता। आहाहा! तीन हुए न?

अब चौथा बोल—**अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो..** जो जीव है, वह ज्ञानानन्दस्वभाव से देखा जाये, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से उसे देखें - भगवान आत्मा को, शाश्वत्-टिकते, शाश्वत् स्वभाव से उसे देखें, आहाहा! तो **उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी..** भावेन्द्रिय है न क्षयोपशम! उस भावेन्द्रिय का अवलम्बन है, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। आहाहा!

अरे! ऐसी बातें अब! द्रव्येन्द्रिय का स्वामी नहीं, इसलिए उसके स्वामीपने रस नहीं चखता और भावेन्द्रिय का स्वरूप है, वह इसके स्वभाव में नहीं। आहाहा! यह तो परमपारिणामिक सहज स्वभावरूपी अपिरणामी तत्त्व... ऐसे भगवान के स्वभाव से देखें तो भावेन्द्रिय के क्षयोपशम से ऐसे रस जो ज्ञात होता है, उससे रस नहीं चखता। आत्मा, भावेन्द्रिय से रस नहीं जानता। आहाहा! रसेन्द्रिय तो जड़, मिट्टी, धूल, उससे तो रस नहीं चखता, उसका स्वामी नहीं इसलिए। किन्तु भावेन्द्रिय का ज्ञान का जो क्षयोपशम पर्याय

में है, उसे भावेन्द्रिय से जो यह रस है ऐसा जानता है। इस स्वभाव की दृष्टि से देखें तो भावेन्द्रिय से भी रस नहीं जानता। आहाहा! ऐसा है।

वीतराग का तत्त्व, परमात्मा के द्वारा कथित (तत्त्व) वह कोई अलग प्रकार है। आहाहा! भगवान आत्मा का चैतन्यस्वभाव, परमपारिणामिक त्रिकाली स्वभाव, सहजात्मस्वरूप, उसके स्वभाव से देखें तो इस रस को जो भावेन्द्रिय जाने, ख्याल में आता है कि यह मीठा है इत्यादि, उस भावेन्द्रिय के द्वारा भी जीव नहीं जानता। आहाहा! क्योंकि **क्षायोपशमिकभाव का भी..** उसका तो (द्रव्येन्द्रिय का) अभाव है परन्तु क्षयोपशमभाव का भी उसे अभाव है। आहाहा! उसकी पर्याय में जो कुछ भावेन्द्रिय के / उघाड़ के अंश से जो रस ज्ञात होता है तो वास्तव में तो भावेन्द्रिय का जो क्षयोपशमभाव है, उसका तो स्वभाव में अभाव है। इसके स्वभाव में वह है ही नहीं। आहाहा!

क्षायोपशमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से.. क्षयोपशम में भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी **रस नहीं चखता, इसलिए अरस है।**

पाँचवाँ—**समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे..** कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों में साधारण ऐसा जो आत्मा का ज्ञान। सर्व विषयों के विशेषों, सर्व विषयों के विशेषों, सर्व विषयों के भेदभाव, पाँच (इन्द्रिय के) उसके साथ में साधारण **एक ही संवेदनपरिणाम..** है। आहाहा! एक-एक इन्द्रिय को जानने का ऐसा नहीं। वह तो सबको एकरूप संवेदन-जानने का अपना स्वभाव है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है भाई! यह गाथा बहुत ऊँची है। यह गाथा बहुत प्राचीन है-प्रत्येक ग्रन्थ में है—समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय और धवल (सब में है।) बहुत पुरानी गाथा है-वीतराग के, सर्वज्ञ परमेश्वर के पंथ में.. आहाहा! यह गाथा आज आ गयी है।

यह कहते हैं **समस्त विषयों के विशेषों में..** पाँचों के, उन प्रत्येक में एकरूप अपना ज्ञान **ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर..** केवल एक रस के वेदन को पाकर **रस नहीं चखता..** वह तो सबका ज्ञातादृष्टारूप से अपना एकरूप परिणाम है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! यहाँ क्या कहते हैं? पाँच इन्द्रिय के विशेषों-जो प्रकार हैं, उनका इसके स्वभाव में तो अभाव है, यह

तो एक ही रूप से जानना-देखना, जानने-देखने के परिणाम को यह तो स्वयं करता है। स्व-संवेदन कहा न? संवेदन परिणाम, जानना-देखना ऐसा वेदन, बस। पाँच इन्द्रिय के विषय में एक-एक में खण्ड खण्डरूप से जानकर पाँचों को खण्ड-खण्ड को जाने, ऐसा यह नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा, पाँच इन्द्रिय के विषयों के विशेषों में भी, एकरूप से संवेदन / जाननेवाला-देखनेवाला ज्ञाता है; इसलिए वह जानता है। आहाहा! ऐसा स्वभाव **वह केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर..** रस को जानकर, रस के वेदन को पाकर **रस नहीं चखता..** अरे.. आहाहा! यहाँ तो यह क्यों लिया कि मनुष्य ऐसे रस चखता है और यह रस जो होवे न, उस रस का ज्ञान होता है, तब वह जानता है कि इस रस से मुझे ज्ञान हुआ। खट्टा है और यह खट्टा मुझे ज्ञात हुआ। खट्टा ज्ञात नहीं हुआ, खट्टा ज्ञात हो जाये, खट्टा ज्ञात हो यहाँ अकेला तो, तब तो ज्ञान खट्टा हो जाये परन्तु ज्ञान स्वयं अपने में रहकर खट्टे को भिन्नरूप से जानकर संवेदन परिणाम से वह तो जानता है। आहा! ऐसे सब नियम, यह शर्तें। समझ में आया?

केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर रस नहीं चखता, इसलिए अरस है। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का.. सकल ज्ञेयों को जाने। यह क्या कहा? रस है, वह ज्ञेय है। वैसे सभी ज्ञेयों को भगवान जाने, तथापि उस ज्ञेयज्ञायक का **तादात्म्य का..** सम्बन्ध **निषेध होने से..** आहाहा! ये परज्ञेय हैं, उन्हें यह जाने, तथापि ज्ञेय और ज्ञायक एकरूप होता है—ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

यह समयसार! भगवान ज्ञायकस्वरूप और अनन्त ज्ञेय। यह ज्ञेय, ज्ञायक को.. ज्ञायक, ज्ञेय को जाने, तथापि ज्ञेय में ज्ञान का यहाँ ज्ञान किया परन्तु ज्ञेय में तन्मय नहीं होता, वह ज्ञान, ज्ञेय में तन्मय नहीं होता। ज्ञेय का ज्ञान किया, उसमें वह तन्मय है परन्तु ज्ञेय -ज्ञायक का व्यवहार सम्बन्ध जो कहा, उससे वह ज्ञेय को जाना, इसलिए ज्ञेयरूप ज्ञान हुआ, जाननेयोग्य पदार्थ में ज्ञान तादात्म्यरूप हुआ, उसरूप हुआ - ऐसा नहीं है।

ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान, ज्ञानरूप रहकर जानता है। आहाहा! अब ऐसा कहाँ निवृत्ति इसमें? निवृत्ति नहीं मिलती, धन्धे के पाप के कारण पूरे दिन। आहाहा! उसमें ऐसा समझने का धारने का इसे कठिन पड़ता है। भाई! मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा! चौदस की

भारी तिथि कहलाती है लोक में, हों! इस रोग के रोग लिये – ऐसा सुना है, भाई ऐसा कहते हैं न, यह बहुत रोगादि होवे न, उसे यह ऐसा सुना है अपन ने तो। मरण की शैय्या पर पड़े हों, उसे यह चौदस भारी कहलाती है – ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो जीवत्व के जीवन में जो आया, उसे यह चौदस भारी है, काली रात नहीं परन्तु उजयाली रात्रि है यह। आहाहा! क्या कहा यह ?

सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होने से.. वह रस, गंध, शरीर, वाणी, मन, धर्मास्ति आदि अनन्त द्रव्य, इन सबको ज्ञेयरूप से ज्ञायक जानने पर भी, वह ज्ञायक, ज्ञायकरूप रहता है, परन्तु वह ज्ञायक ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेय में तादात्म्य अर्थात् उसरूप नहीं होता। आहाहा! मोटाणी! यह सूक्ष्म है आज। यह ४९ वीं गाथा आयी है न जरा! यह सूक्ष्म है न भगवान! सूक्ष्म है यह कहेंगे अन्दर अव्यक्त में, टीकाकार ने सूक्ष्म लिया है। यह तो छह बोल लेंगे परन्तु जयसेनाचार्य ने तो यह लिया है कि मन का जो विकल्प है, काम-क्रोधादि का (विकल्प) उससे अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। आहाहा! मन के विषय से और मन से भी ज्ञात हो, ऐसा प्रभु नहीं है। इसलिए अव्यक्त है। वहाँ उन्होंने ऐसा लिया है। यह बोल बहुत सूक्ष्म लेंगे। अमृतचन्द्राचार्य तो गजब करेंगे। आहाहा!

अब जीव ऐसा जैसा है, वैसा भी अभी इसके जानने में न आवे और जानने में आवे तो भी वह कहीं वास्तविक ज्ञान नहीं है। आहाहा! ऐसा तो परलक्षी यथार्थ ज्ञान जब होता है तो भी वह कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा! परन्तु अभी ऐसा परलक्षी सत्यार्थ है, उसका अभी पता नहीं, उसे स्वलक्षी ज्ञान तो कहाँ से होगा प्रभु! आहाहा! और स्वलक्षी ज्ञान हुए बिना भव का अन्त कहीं नहीं है। आहाहा!

सकल ज्ञेयों का ज्ञान होता है। लोकालोक का ज्ञान होता है, तथापि उस ज्ञेय-ज्ञायक का एक होने का निषेध है। इसलिए भी **रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी..** रस है, उसके ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी, **स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता..** आहाहा! यहाँ रस का ज्ञान करे, वह ज्ञेय है इसलिए; तथापि उस रसरूप नहीं होता। रस के ज्ञानरूप से (जो) स्वयं का ज्ञान है उसरूप होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह तो पहले निवृत्ति लेकर अन्तर में अभ्यास करे, तब बहिर्लक्षी ज्ञान हो, वह तो अभी बहिर्लक्षी; वह अन्तर का नहीं। आहाहा! जो भव के अन्त का ज्ञान है, वह तो.. आहाहा! ऐसा जो जानपना हो लक्ष्य में-मस्तिष्क में, उससे भी पार परमात्मा स्वयं जो भिन्न है। आहाहा! ऐसा ज्ञायकभाव, उसे स्पर्शकर अथवा उसमें अपनापन मान्यता होकर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान भव के अन्त का कारण है। यह तो वह बाह्य है, इस प्रकार है, उसका स्वरूप ऐसा है-ऐसा है, ऐसा इसके ख्याल में-बहिर्लक्षी ज्ञान में जहाँ अभी नहीं आया, आहाहा! उसे अन्तर्लक्षी वास्तविक ज्ञान तो कहाँ से होगा? आहाहा! मान ले कि मुझे कुछ ज्ञान हुआ है! आहाहा! वह तो एक मस्तिष्क में आया। हम पढ़ते थे, तब कवि दलपतराम के (गीत) में एक शब्द था 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो मुज रोग ले हरी' ऐसा हमारे समय में दलपतराम में आता था। सत्तर वर्ष पहले की बात है। पौने सौ वर्ष पहले की बात है। कवि दलपतराम का गायन था, पुस्तक में आता था। दलपतराय स्वयं परीक्षा लेने आते, हमारे समय। उन्हें तो बहुत वर्ष हो गये। पौने सौ वर्ष हुए।

'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो-मुजरो अर्थात् विनती, मुजरो मुज रोग ले हरी! कवि हैं न ये तो। आहाहा!

मैं आनन्द का नाथ प्रभु, मैं जब स्वरूप में अनुभव करके राग और द्वेष के अज्ञान को हरकर नाश करूँ, तब मैं हरि और आत्मा कहलाऊँ। तब मेरी प्रभुता पसरी और प्रगट हुई तब कहलायेगी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी..** ज्ञानरूप से परिणमते हों! यह रस का ज्ञान नहीं, वह तो-ज्ञान तो स्व पर प्रकाशक स्वयं का है परन्तु इसे समझाना किस प्रकार? रस का ज्ञान कहा, वह रस का ज्ञान नहीं; वह ज्ञान स्व-पर प्रकाशक स्वयं की सामर्थ्य है, उसका है परन्तु लोगों को समझाना किस प्रकार? आहाहा! रस के ज्ञानरूप परिणमते हुए, इसमें क्या कहा? कि जो रस है, उसे जानता है। इसलिए रस के ज्ञानरूप परिणमते होने पर भी.. यह निमित्त से कथन किया परन्तु वास्तव में तो उस समय का ज्ञान, स्वयं को जानता है और स्वयं को जानते हुए रस को जानने का, रस है इसलिए नहीं; स्वयं स्व-पर प्रकाशकरूप से परिणमने पर वह परिणति जानता है। यह क्या कहा? यह क्या

कहा ? कि रस है, उसका जो यहाँ जानने का ज्ञान हुआ, वह रस के कारण नहीं। रसरूप तो हुआ नहीं परन्तु रस के कारण वह ज्ञान नहीं। रसरूप तो-ज्ञेयरूप तो हुआ नहीं परन्तु ज्ञेय का ज्ञान हुआ, वह रस का ज्ञान नहीं परन्तु इसे समझना है तो किस प्रकार समझाना ? नवरंगभाई! आहाहा! (गाथा) बहुत सूक्ष्म है, बापू! प्रभु! भाई कहते थे न! अरे ऐसा अवसर कब आये, बापू! आहाहा!

कहते हैं कि रस को द्रव्येन्द्रिय द्वारा तो चखे नहीं क्योंकि उनका स्वामी नहीं। भावेन्द्रिय द्वारा चखे नहीं क्योंकि वह उसका स्वभाव नहीं परन्तु रस को अपने में, अपने में रहकर, यह रस है उसका ज्ञान किया, वह भी रस के कारण ज्ञान हुआ है - ऐसा नहीं है। रसरूप से तो ज्ञान नहीं हुआ परन्तु ज्ञान, रस के ज्ञानरूप हुआ - ऐसा भी नहीं। यह क्या कहा ? आहाहा! वह ज्ञान स्वयं अपने में स्व-पर प्रकाशक के स्वभाव के कारण अपनेरूप हुआ है। भाई! आहाहा!

ईश्वरभाई! यह सब ईश्वरता का वर्णन चलता है। सम्पूर्ण ईश्वर प्रभु, प्रभुत्वगुण से भरपूर, एक प्रभुत्वगुण आता है न भाई उसमें ? 'स्वतंत्रता से शोभित कहीं अपने प्रताप से दूसरे से खण्डित न हो ऐसा' यह प्रतापगुण की व्याख्या है। आहाहा! जो किसी से खण्डित न हो और स्वतंत्रता से शोभित ऐसा प्रभुत्व नाम का गुण भगवान में है। ऐसा ही गुण प्रत्येक गुण में है। आहाहा! ज्ञानगुण भी अपने प्रताप से खण्डित न हो और उसे कोई खण्डित करनेवाला है नहीं और स्वतंत्रता से ज्ञान की पर्याय स्वयं से स्वयं को हो, ऐसा उस प्रभुत्वगुण से भरपूर ज्ञान है। आहाहा! ऐसा उपदेश किस प्रकार का! इसमें क्या करना, कुछ सूझ पड़ती नहीं! भाई! तू कौन है, वहाँ उसे देख तो तुझे सब पता पड़ेगा। आहाहा!

आहाहा! यहाँ तो परमात्मा, तीन लोक के नाथ कहते हैं, वह सन्त आढ़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। तीन लोक के नाथ, सीमन्धर परमात्मा सर्वज्ञदेव के पास गये थे। महावीर प्रभु से तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव से छह सौ वर्ष बाद हुए थे। अन्दर में थे। महावीर का जो कहना था, वह परन्तु भगवान से तो विरह, इसलिए वहाँ जाकर, सुनकर आकर, यह कहा। भगवान ऐसा कहते हैं, हम तो भगवान का माल है (उसे) आढ़तिया होकर जगत को बतलाते हैं। आहाहा! जिन्हें प्रत्यक्ष तीन काल-तीन लोक हो गये हैं, यह कहना

भी व्यवहार है। उनकी पर्याय में स्व-पर प्रकाशक की पूर्णता प्रगट हो गयी है। आहाहा! ऐसा जो भगवान तीन लोक का नाथ.. आहाहा! सीमन्धर प्रभु विराजमान है, महाविदेह में मौजूद हैं, आहाहा! उनके पास.... अनुभव तो था, चारित्र था परन्तु विशेष स्पष्टता करके आये और जगत को प्रसिद्ध किया। भगवन्त! तुझे रस का ज्ञान होता है, वह तेरा ज्ञान रसरूप नहीं होता। रस के साथ तादात्म्य तो नहीं परन्तु जो रस का यहाँ ज्ञान होता है, इसलिए रस है, अतः यहाँ ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। वह रस को जानता है, इसलिए रस का ज्ञान, रस है इसलिए उसका ज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है। उस समय में स्व के ज्ञानसहित पर के ज्ञानरूप अपना परिणमन का स्वभाव है, इसलिए स्व-पर प्रकाशकरूप से जीव परिणमता है। अरे! ऐसी सब शर्तें हैं। समझ में आया?

इसलिए अरस है। इस प्रकार छह तरह के रस के निषेध से वह अरस है। इसी प्रकार रूप ले लेना। छहों बोल में; ऐसे गन्ध ले लेना, इसी प्रकार लेना छहों कहे न! छह प्रकार-अभी कहा उस प्रकार। इसी प्रकार स्पर्श ले लेना। स्पर्श वह पुद्गल का गुण है, इसलिए जीव में वह स्पर्शगुण नहीं है, इसलिए गुण, स्पर्श से रहित है, पुद्गल का गुण होने से वह गुण इसमें नहीं है, उस द्रव्य का गुण होने से और यह पुद्गल का गुण होने से नहीं है और द्रव्येन्द्रिय के द्वारा वह स्पर्श को छूता है, दूसरे स्पर्श को छुये-वह द्रव्येन्द्रिय का कोई स्वामी नहीं कि पर को छुये। आहाहा! भोग के समय द्रव्येन्द्रिय पर को स्पर्श करती है - ऐसा कहा जाता है, कि 'नहीं' उस द्रव्येन्द्रिय का स्वामी नहीं, उस द्रव्येन्द्रिय से वह स्पर्श करे - ऐसा कैसे कहा जाये? और भावेन्द्रिय में जो भाव / स्पर्श ज्ञात होता है। भावेन्द्रिय से, वह इसका स्वरूप नहीं। स्वभाव की दृष्टि से देखें तो भावेन्द्रिय से यह स्पर्श को जाने, वह इसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! है न छह बोल?

इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों में एक ही ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र है। इसलिए स्पर्श के ज्ञान को अवलम्बता है - ऐसा नहीं है। फिर स्पर्श है, (वह) ज्ञेय है और भगवान आत्मा उसका जाननेवाला है, तथापि वह जाननेवाला स्पर्श के ज्ञेयरूप होकर उसे नहीं जानता, उसे तादात्म्य होकर उसे नहीं जानता तथा स्पर्श को जानते हुए स्पर्श है, इसलिए यहाँ स्पर्श का ज्ञान हुआ - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उस समय में ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक अपनेरूप से है; इसलिए वह स्पर्श को जानता है - ऐसा कहना भी

व्यवहार है। जानता है, यह कहना वह व्यवहार है। उसका तो / स्पर्श का तो ज्ञान नहीं, स्पर्शरूप होकर जानता नहीं, परन्तु स्पर्शरूप रहकर स्वयं ज्ञानरूप स्पर्श को जानता है। स्पर्श, स्पर्शरूप रहा यहाँ ज्ञानपना रहकर स्पर्श को जानता है, तथापि स्पर्शरूप नहीं हुआ। तथापि वह स्पर्श है, इसलिए यहाँ ज्ञान का परिणमन हुआ - ऐसा भी नहीं है। ऐसा है! भाषा तो सादी है, प्रभु! भाषा कहीं बहुत कठिन नहीं है। कोई व्याकरण संस्कृत (ऐसी कठिन नहीं है)। वस्तु तो ऐसी है। इस प्रकार स्पर्श के छह बोल लेना। ऐसे शब्द के लेना। है न? शब्द में यह लेना। यह शब्द है, वह जड़ की पर्याय है। वह उसका गुण लिया था, भाई! यह रस, गंध, स्पर्श गुण था। अब यह शब्द तो पुद्गल की पर्याय है। शब्द वह है? देखो! **जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से उसमें शब्दपर्याय**—ऐसी भाषा है। पहले में गुण था (इतना) अन्तर है। आहाहा!

जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें शब्दपर्याय.. भगवान आत्मा में **विद्यमान नहीं है, अतः..** प्रभु तो **अशब्द है। पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न..** पहला पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से शब्दपर्याय, अब यहाँ पुद्गलद्रव्य की पर्याय से भी भिन्न होने से स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है। भगवान आत्मा में शब्द की दशा ही नहीं है। आहाहा! जरा उन चार कर्ता में विस्तार है न? स्वयं शब्दपर्याय नहीं है। **परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी इसे नहीं होने से, द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा शब्द सुनता ही नहीं।** इस कान के अवलम्बन से आत्मा शब्द को नहीं सुनता। आहाहा! गजब बात है! क्योंकि कान तो जड़ है, वह सब, इस जड़ का कहीं आत्मा स्वामी नहीं कि इसके अवलम्बन से सुने। आहाहा! गजब बात है भाई! जगत से उलटी। क्या कहा यह? पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी तू नहीं है परन्तु द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा-कान के अवलम्बन द्वारा आत्मा शब्द को नहीं सुनता, इसलिए अशब्द है। आहाहा!

अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो क्षायोपशमिकभाव का भी उसे अभाव.. है, भावेन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा भी शब्द को नहीं सुनता। उसके द्वारा तो नहीं, परन्तु जो क्षयोपशमज्ञान है जो भावेन्द्रिय का है, उसके द्वारा भी आत्मा शब्द को नहीं सुनता। है? **इसलिए वह अशब्द है।** विशेष है दो बोल।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)